



उधार के चेहरे

एक संज्ञानात्मक विराम

खुद बनने से पहले हम बाक़ी सब बन जाते हैं।

माँ-बाप।

अध्यापक।

दोस्त।

बॉस।

जीवनसाथी।

दुनिया पहचानें बाँटने में दरियादिल है।

वह इस बात के हज़ारों बने-बनाए रूप पेश करती है कि हमें क्या बनना चाहिए।

एक अच्छा बेटा।

एक इज़्ज़तदार आदमी।

एक कामयाब पेशेवर।

एक भरोसेमंद पति।

इनाम साफ़ दिखते हैं।

शाबाशी।

मान्यता।

अपनापन।

क्रीमत कम दिखती है।

दूरी।

वह दूरी, जो इसके बीच है कि तुम क्या हो और तुम क्या निभाते हो।

जब मैं जवान था, अभिनय हूबहू कामयाबी जैसा दिखता था।

मैंने ढलना सीखा।

खप जाना सीखा।

हर कमरे में वही ज़बान बोलना सीखा जिसकी वहाँ उम्मीद थी।

यह एक ऐसी क़ाबिलियत थी जिसने उम्र भर मेरे लिए दरवाज़े खोले।

फिर भी हर उधार का चेहरा अपने साथ एक छोटा-सा क़र्ज़ लाया।

ऐसा क़र्ज़, जो अपनी असलियत देकर चुकाया जाता है।

एक-एक टुकड़ा करके।

कुछ भी नाटकीय नहीं।

कोई तबाही नहीं।

घिसाव चुपचाप होता रहा।

जैसे पानी पत्थर को नई शक्ल देता है।

जैसे बरस यक़ीन को नई शक्ल देते हैं।

पीछे मुड़कर देखता हूँ तो समझ आता है कि ज़्यादातर लोग नाकामी में नहीं फँसे होते।

वे कामयाबी में फँसे होते हैं।

कामयाबी ग़लत रास्ते को छोड़ना मुश्किल बना देती है।

तालियाँ सबूत बन जाती हैं।

उपलब्धियाँ प्रमाण बन जाती हैं।

भूमिका पहचान बन जाती है।

और आख़िरकार मुखौटे की देखभाल उसे पहनने वाले इंसान से ज़्यादा होने लगती है।

यह एहसास अचानक नहीं आया।

वह टुकड़ों में आया।

बरसों में।

देशों में।

रिश्तों में।

चुप्पी के लंबे दौरों में।

पर नींव बहुत पहले पड़ चुकी थी।

वह उन शुरुआती बरसों में पड़ी जब मैंने सीखा कि दूसरों को जो चाहिए वही बनकर क़बूलियत कमाई जा सकती है।

दुनिया ने तालियाँ बजाईं।

मुखौटा फलता-फूलता रहा।

चेहरा इंतज़ार करता रहा।

सब्र से।

अपने बोलने की बारी का।

फर्दिनांदो